सेवाओं के साथ साथ 'आत्म बल' के स्तर की सेवाएं कैसे की जाती हैं-इसे सीखना और जीवन में उतारना अत्यन्त आवश्यक है। 'आत्मबल' के माध्यम से सेवा करने के लिए 'अनन्त के तत्व' की सहायता लेनी पड़ती है। सुख और दु:ख से परे करने की क्षमता 'अनन्त के तत्व' के अतिरिक्त; और कहीं नहीं है। छोटी छोटी शक्तियों के माध्यम से सेवा, उन व्यक्तियों के जीवन में बहुत ही आवश्यक हैं-जो 'आत्मबल' के माध्यम से सेवा करने योग्य नहीं हैं। यदि दोनों स्तर की सेवाएं हो सकती हैं-तो इससे अच्छा कुछ भी नहीं है। यहां पर लेखक एक महत्वपूर्ण बात यह बताना चाहता है कि

'आत्मबल' के माध्यम से सेवा करने वाले के लिए

छोटे स्तर की सेवा अनिवार्य नहीं है।

जो लोग कुछ दिनों से ध्यान के रास्ते पर चल रहे हैं और जिनका अभ्यास (Meditation) काफी अच्छा चल रहा है-उन्हें यह अनुभूति भी हो रही होगी कि ज्यों ज्यों मन में आनन्द उभरता है-त्यों त्यों उनके जीवन में स्थूल स्तर की क्रियाएं स्वभावत: कम होने लगती हैं। इस आधार पर यह समझना आसान है कि; 'आत्मबल' के माध्यम से सेवा करने वाले के लिए स्थूल स्तर की सेवाएं अनिवार्य नहीं हैं।

यदि जीवन के दु:ख से परे होना है-तो सेवा किसकी की जाए? उत्तर आसान है-'सुख की शक्ति' की। 'सुख की शक्ति' ही 'ईश्वरीय शक्ति' है और यदि 'ईश्वरीय शक्ति', ईश्वर की है-तो हमें ईश्वर की सेवा करनी है।

ईश्वर क्या है? ईश्वर की सेवा कैसे की जाए? भिन्न भिन्न लोग इसके अलग अलग अर्थ लगा सकते हैं। जिस स्तर का जिसका ज्ञान है-उसी स्तर का उसका अर्थ होगा और उसी स्तर का उसकी सेवा का फल होगा। इस विषय पर लेखक अपने स्तर की बात कहना पसन्द करेगा-यदि कोई ईश्वर की ओर, उसकी सेवा का भिन्न अर्थ लगाना चाहे-तो लेखक का उससे कोई विरोध नहीं है।

सृष्टि तीन भागों में बंटी है-(1) क्रियाओं का क्षेत्र, (2) भावों का क्षेत्र और (3) भावातीत क्षेत्र। 'भावातीत क्षेत्र' कण कण में विद्यमान है और यह 'ईश्वरीय शक्ति' का बहुत बड़ा सागर है। 'ईश्वरीय शक्ति' का ही, एक गुण-चैतन्यता है। दूसरे शब्दों में जहां पर ईश्वरीय शक्ति है-केवल वहीं चेतना है। इसलिए अध्यात्म जगत का ज्ञान हमें यही बताता है कि 'चेतना' सर्वव्यापी है। यह 'चेतना' बाहर के क्षेत्र में सीमित माध्यमों द्वारा प्रगट होती है, लेकिन सम्पूर्ण 'भावातीत क्षेत्र' की अपनी 'सामूहिक चेतना' तो - है ही। यही ईश्वर है। ❑

नोट : 1. ध्यान पत्रिका का वार्षिक शुल्क 50/- (पचास) रुपये मनी आर्डर अथवा कैश; अपने Address एवं Contact No. सहित इस पते पर भेजें :-

-श्री राकेश गर्ग, केशव लैस इम्पोरियम,
दुकान नं० 91, लाजपतराय (रेहड़ी) मार्केट, हिसार-125001
मोबाईल : 098967-89678

2. प्रत्येक रविवार को बुधला सन्त मन्दिर, नज़दीक बस स्टैण्ड, हिसार के जपकक्ष में प्रात: 11.00 बजे से 12.30 बजे एवं प्रतिदिन सायं 4 से 5 बजे सामुहिक ध्यान प्रयोगात्मक (Practical) और उसी मन्दिर में प्रति रविवार पारिवारिक ध्यान सत्संग सायं 5 बजे से सायं 7 बजे तक होता है। आप सभी सपरिवार सादर आमन्त्रित हैं।

3. ध्यान (Meditation or Self Realization) सम्बन्धी अपने अनुभव, लेख, आलोचना (Comments), अनुभूतियां, प्रश्नोत्तर, शंका-समाधान इत्यादि इस पते पर भेज सकते हैं:-

-सुरेश कुमार गुप्ता
1618, अर्बन स्टेट-2, हिसार-125005
E-mail : sureshgupta1936@gmail.com

PRINTED MATTER

क्षेत्र' में होती हैं और इस दृष्टि से जो कार्य, सेवा के नाम पर किया जाता है-वह सेवक और सेव्य दोनों को ही दु:ख देता है।

दोहा-47 : सतत ध्यान से ब्रह्म-सुख, दिन प्रति बढ़ता जाय।
छलक पड़ेगा स्वयं ही, ज्यों-ज्यों सुख अधिकाय॥

निरन्तर ध्यान द्वारा दिन प्रतिदिन सुख बढ़ता जाता है। ज्यों ज्यों सुख अधिक बढ़ता है-वह स्वयं ही छलक पड़ता है और वातावरण में फैल जाता है। जिस प्रकार रंग करके धूप में सुखाने पर कपड़ों का कुछ रंग वातावरण में चला जाता है-उसी प्रकार ब्रह्म के सम्पर्क के (ध्यान के) बाद क्रियाशील होने पर मन को प्राप्त ब्रह्मतत्व का कुछ अंश वातावरण में घुल जाता है।

साधक के माध्यम से वातावरण में फेंका गया यह ब्रह्म तत्व सूक्ष्म, शक्तिशाली और उत्कृष्ट प्रकार की सेवा है।

ऐसे ही जब किसी सम्पन्न व्यक्ति के घर में सबके खाने के बाद भी, कुछ खाना बच जाता है-तब वे उसे स्वभावत: (अर्थात् बिना कष्ट और तनाव के), घर के बाहर रख देते हैं-जो दूसरों के काम आ जाता है। इसी प्रकार जब सुख की सभी सामग्री देने वाला तत्व, साधक की आवश्यकता से अधिक देने लगता है-तब वह स्वभावत: दूसरों के काम आ जाता है, अर्थात् छलक पड़ता है और बिना कृतज्ञ हुए उन्हें मिल जाता है।

दोहा-48 : सत् चित आनन्द ब्रह्म दे, सेवा दे सुख खण्ड।
खण्ड अन्त में दुखद है, साधक ग्राह्य अखण्ड॥

ब्रह्म से सत्-चित्-आनन्द मिलता है। खण्ड की सेवाएं, थोड़ा सुख देकर-फिर दु:ख देती हैं। इसलिए साधक को 'ब्रह्म ध्यान' की साधना अपनानी चाहिए। जीवन के सारे सुखों का आधार, 'सत् की शक्ति' है। सम्पूर्ण सृष्टि में अलग अलग प्राणियों की 'अनुभव की शक्ति' तथा उनका 'आन्तरिक सुख', मन को ध्यान के समय 'ब्रह्म तत्व की देन' है। इसकी कमी में लाभ की दृष्टि से, या किसी हानि से बचने के लिये छोटी छोटी खण्ड सेवाओं द्वारा सुख देने का प्रयास 'खण्ड की अनन्त शक्तियों' में से एक है-लेकिन सत्, चित् और आनन्द तो

अखण्ड की एक ही 'अखण्ड शक्ति' है। यदि जीवन का आधार-'अखण्ड की उक्त शक्ति' हो-तभी खण्ड की शक्तियां भी दुख से रहित, अर्थात् सुखदायी होती हैं। अर्थात् बिना उस साधना को अपनाये-जिसके द्वारा 'अखण्ड की शक्ति' बढ़ती है। सारी खण्ड शक्तियां सीमित सुख देने के बाद-अन्त में दुखद हो जाती हैं, इसलिये साधक के लिये 'अखण्ड की शक्ति' उपलब्ध कराने वाली 'ध्यान की साधना' ही अपनाने योग्य है।

सेवा

एक प्राणी किसी दूसरे प्राणी के मन को, बिना किसी स्वार्थ के किसी प्रकार का सुख दे सके-यही सेवा की परिभाषा होगी। कोई भी सुख देने के लिए, किसी-न-किसी स्तर की क्षमता की आवश्यकता होती है। हम अपनी शारीरिक शक्ति या बुद्धि के सहारे किसी की सेवा करते हैं। ठीक इसी प्रकार 'आत्मबल के स्तर' की सेवा भी होती है। जिस स्तर पर सेवा होती है-वह उसी स्तर की साधना कहलाएगी और वैसा ही फल, जीवन में मिलेगा।

सेवा तो वह क्रिया है-जिसमें स्वार्थ होता ही नहीं।

ऐसी क्रियाओं का उद्देश्य कभी दु:खदायी, हो ही नहीं सकता। उद्देश्य, हमेशा भाव के क्षेत्र में होता है। भावों के क्षेत्र में भी क्रिया प्रतिक्रिया का नियम चलता ही रहता है। इसलिए नि:स्वार्थ सेवाएं ऐसी क्रियाएं होती हैं-जिनकी प्रतिक्रियाएं जीवन में ऐसे सुख प्रदान करती हैं, जिनके उपलक्ष्य में किसी को कुछ देना आवश्यक नहीं होता। हमारा जीवन ऐसी क्रियाओं की अनुभूतियों से भरा है।

क्रियाएं हमेशा ही सुखदायी हों-तो धीरे धीरे, आज नहीं तो कल, कल नहीं तो अगले जन्म में-प्रतिक्रियाओं का सामूहिक प्रभाव निश्चय ही सुखदायी होगा। यह बात हमें सिखाती है कि सेवा, जीवन में कितनी महत्वपूर्ण साधना है।

मनुष्य को सेवा के लिस दो चीजों की आवश्कयता है - उसकी क्षमता - यदि उसकी साधना ऐसी नहीं है कि दिन-ब-दिन सेवा करने की उसकी क्षमता बढ़े-तो वह जीवन के बड़े, लम्बे काल तक केवल (स्थूल क्षेत्र की क्रियाओं के स्तर की सेवा) छोटी छोटी सेवाओं में ही लगा रह जाएगा। क्षमता बढ़ाने की दृष्टि से करना यह है कि; शारीरिक शक्ति के स्तर की सेवाओं और बुद्धि के स्तर की

कर देता है। मनुष्य 'आन्तरिक जगत' के कर्मों में प्रवेश कर, 'होनी' से दोस्ती करने की इच्छा जताता है और ज्यों ज्यों दोस्ती बढ़ती है-दोस्त की कृपा ना बरसने का प्रश्न ही नहीं उठता। हम पृथ्वी पर नित्य देखते हैं कि बाल्य अवस्था में जब एक बालक अपने माता पिता की ओर अग्रसर होने की इच्छा जताता है-तो माता पिता तुरन्त अपने अपने हाथ फैलाकर बालक और अपने बीच की दूरी कम करते हैं और इशारों से उसे अपने पास आने को कह कर, उसकी हिम्मत बढ़ाते हैं-बिलकुल यही बात 'जीव और परमात्मा' के बीच रहती है-जीव बालक है। ब्रह्म, माता पिता दोनों है। इसीलिए ज्यों ज्यों वह 'होनी के क्षेत्र' में प्रवेश की इच्छा के साथ आन्तरिक क्षेत्र में प्रवेश करने का कर्म करता है-त्यों त्यों ब्रह्म की कृपा बालक को अपने पास जल्दी से जल्दी बुलाने हेतु बढ़ती ही चली जाती है और उसे उस माया से मुक्त करा देती है-जो 'माया' हमेशा जीव को ब्रह्म की ओर जाने से रोकती है। ❑

आत्मतत्व

—महर्षि श्री ओम

हमारी जीवन यात्रा का एक ही उद्देश्य है-आत्मतत्व का साक्षात्कार।

जो व्यक्ति अपने आत्मतत्व को जान जाता है-वह परमात्मा को जान लेता है। एक महात्मा मंदिर के बाहर ही बैठे रहे, जबकि उनके सभी शिष्य मंदिर के भीतर जाकर भगवान के दर्शन कर लौट आए। एक भक्त ने उनसे पूछा कि; गुरुजी! क्या आप भगवान के दर्शन करने भीतर नहीं जाएंगे? इस पर महात्मा ने कहा कि मैंने यहीं से भगवान के दर्शन कर लिए हैं। जिज्ञासु भक्त ने पूछा कि; यहां से तो भगवान की मूर्ति दिखाई नहीं दे रही है? महात्मा ने कहा कि

भगवान की मूर्ति मेरे मन में ही बसी है।

मुझे मंदिर के भीतर जाने की आवश्यकता नहीं है।

बल्कि अपने मन के बंद दरवाजे खोलने की जरूरत है।

यह सुनकर सभी शिष्य असमंजस में पड़ गए। तब महात्मा ने उन्हें समझाया कि भगवान के दर्शन पूजा पाठ या तीर्थ करने से नहीं होते। ये साधन हो सकते हैं,

लेकिन

सत्य को जानने के बाद परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं।

सत्य को जानने के लिए-आत्मतत्व को जानना होता है।

जो हमारे भीतर ही मौजूद है।

हमारा प्रत्येक निर्णय सत्य होने का दावा करता है

इसका अर्थ यह हुआ कि असत्य को जान लेना ही सत्य है। ❑

ध्यान माला

✍ श्री कुबेर प्रसाद 'गुप्त कबीर'

दोहा-46 : सेवा का प्रेरक अगर, लाभ-हानि का ज्ञान।
दोनों को ही दुख मिले, सेवक-सेव्य समान॥

अगर लाभ हानि के विचार से सेवा की जाती है-तो सेवा करने और कराने वाले, दोनों को ही दुःख मिलता है। समाज में सेवा का हमेशा से ही महत्व और आदर रहा है। वह सेवा-जिसे सेवक किसी लाभ को दृष्टि में रख कर करता है, जैसे-धन के दसांश से सेवा करने पर धन का अभाव दूर होगा अथवा सेवा न करने से कल्याण नहीं होगा-अर्थात् बीमारी, जेब कट जाने, व्यापार या कारखाने में हानि से धन की कमी हो जायेगी-इस डर से अथवा अच्छा कर्म समझ कर सेवा करने की कोशिश और अभ्यास करता है-तो इस प्रकार की सेवा तनाव पैदा करती है और दुःख भी होता है-जिसकी सेवा की जाती है-उसके प्रारब्ध के अनुसार-यदि उसे सुख नहीं मिलता है-तो उसकी चाहे जिस प्रकार और जितनी सेवा की जाय, उसे कर्मानुसार दुःख ही मिलेगा।

वास्तविक बात यह है कि 'ब्रह्म की शक्ति' प्राप्त करके मन, जब बाह्य जगत में क्रियाशील होता है-तब वह बुद्धि के अनुशासन से मुक्त, ब्रह्म की कल्याणकारी योजनानुसार कार्य करता है और उसका फल हर हालत में सेवक और सेव्य (जिसकी सेवा की जाती है)- दोनों के लिये कल्याणकारी होता है। इसके विपरीत लाभ हानि की दृष्टि से बुद्धि के नियंत्रण में की जाने वाली सेवा, 'द्वैत के

महसूसियत की शक्ति में ही ज्ञान उत्पन्न होता है; या यह कहें कि महसूसियत की शक्ति को ही चेतना कहते हैं। चेतना उसे कहते हैं-जिसमें ज्ञान उत्पन्न होता है। पूरी सृष्टि का ज्ञान, चार चेतनाओं में बंटा हुआ है-निद्रा की चेतना, स्वप्न की चेतना, इन्द्रिय जगत के विषयों की चेतना और संपूर्ण 'होनी क्षेत्र की चेतना'।

जीवों में मात्र मनुष्य ऐसा जीव है-जो चारों प्रकार की चेतना का विकास, अपने मन में कर सकता है-वही माया से दूर होता है। मात्र 'ब्रह्म' के पास पूर्ण चेतना है। इसी कारण से, मात्र 'ब्रह्म', माया से दूर और; मात्र मनुष्य-साधना करके माया से दूर हो सकता है। ऐसे मनुष्यों को ही 'ब्रह्म समाना' कहा गया है। क्योंकि मात्र ब्रह्म और ऐसे व्यक्तियों में एक समानता है-दोनों ही माया के चक्र से परे हैं।

मनुष्य होनी की चेतना का विकास करने के लिए ही पृथ्वी पर जन्म लेता है।

पूर्ण होनी की चेतना का विकास चार चरणों में होता है। लेखक ने इन चरणों को योगस्थ, गृहस्थ चेतना, वानप्रस्थ और अद्वैत चेतना के नामों से संबोधित किया है। 'योगस्थ चेतना' प्राप्त होने पर, मनुष्य जागती हुई अवस्था में 'आन्तरिक क्षेत्र' में विचरण करने में धीरे धीरे सिद्ध हो जाता है और इस सिद्धी की प्राप्ति के बाद-जब वह अपने 'गृहस्थ जीवन' के कार्यों में व्यस्त होता है-तब उसके गृहस्थी के कर्म, 'कुशलतापूर्वक' होते हैं और इसीलिए गीता (2.48 से 2.50) में 'योगस्थ: कुरु कर्माणि' को 'कर्म कौशल' का रास्ता बताया गया है। इस रास्ते पर सिद्ध होने के पश्चात् मनुष्य के जीवन में 'होनी की शक्ति' प्रवेश कर जाती है। फलस्वरूप, उसके जीवन के अधिकतर कार्य, कम-से-कम परिश्रम द्वारा होने लगते हैं। धीरे धीरे वह इस माया से परे होने लगता है कि बिना परिश्रम के जीवन में कुछ नहीं मिल सकता। धीरे धीरे उसमें एक विश्वास जागृत होता है कि 'ब्रह्म की शक्ति' जगाकर, मन बिना परिश्रम के कुछ भी प्राप्त कर सकता है। संत तुलसीदास ने अपने जीवन में यह 'जीवन सत्य' उतरते, उस समय देखा-जब उन्होंने अपनी चौपाई द्वारा व्यक्त किया कि; 'मात्र इच्छा करने से सब कुछ पाना संभव है।'

इन्द्रिय जगत की सबसे बड़ी माया यह है कि; मनुष्य समय को अपने वश में नहीं कर सकता। समाज में भी यह कहावत प्रसिद्ध हुई कि :-

मनुष्य बली नहीं होत है, समय होत बलवान।
भीलन लूटी गोपिका, वही अर्जुन वही बाण॥

परन्तु साधना के 'अन्तिम चरणों' में मनुष्य इस माया को भी काटने में सक्षम है। वह, तत्काल जो चाहता है-उसे मिलने लग जाता है। जो 'अन्तिम चरण' में पहुंच जाते हैं-उनके जीवन की सबसे बड़ी माया यह है कि

'समय किसी मनुष्य के वश में नहीं आ सकता'-भी कट जाती है।

ऐसे मनुष्यों को समाज 'ब्रह्म स्वरूप' होने की मान्यता दे देता है। यद्यपि ब्रह्म तो वही है-जो अनादि और अनन्त है। यद्यपि ब्रह्म एक था, एक है और एक ही रहेगा-'ब्रह्म' अनादि काल से सारे 'बन्धनों से मुक्त' है। परन्तु 'ब्रह्म स्वरूप' जीव साधना द्वारा, अपने को 'बन्धन मुक्त' करने में सफल हो जाता है-जिस प्रकार ब्रह्म, बंधन मुक्त होता है-उसी प्रकार 'ब्रह्म स्वरूप' जीव को 'इच्छा मृत्यु की शक्ति' प्राप्त हो जाती है। 'इन्द्रिय जगत' में वह फिर आए, न आए-इस 'बन्धन से मुक्त' हो जाता है।

इन्द्रिय जगत में माया का जन्म, बदलती हुई चेतना के कारण होता है और तीन चेतनाओं में जीवन बिताने वाले व्यक्तियों का जीवन, पूर्णरूप से माया से ग्रसित रहता है। तीन चेतनाओं से बना हुआ चक्र ही, 'माया चक्र' है। जब मनुष्य चौथी चेतना में प्रवेश करता है-तब वह तीन चेतनाओं से बने चक्र से बाहर होता है। जब वह बाहर आता है-तब उसके जीवन में 'होनी की चेतना' प्रवेश करती है। ज्यों ज्यों 'होनी की चेतना' में वह अग्रसर होता है-त्यों त्यों ऊपर बताए हुए माया के चक्र से दूर होता जाता है। ज्यों ज्यों माया के चक्र से उसकी दूरी बढ़ती है - त्यों त्यों साधक के जीवन पर माया का प्रभाव कमजोर होने लगता है। धीरे धीरे साधक, माया के प्रभाव से मुक्त होने लगता है और ऊपर बताए 'अन्तिम चरण' में पहुंचने पर -माया से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाता है।

होनी का क्षेत्र ही, ब्रह्म है। जिसके मन में होनी के क्षेत्र में प्रवेश होने की इच्छा जागृत हो जाती है-उसे ब्रह्म 'होनी के माध्यम' से मदद करना आरंभ

फल नहीं दिखता। यही 'माया की शक्ति' है और माया, अपनी इस शक्ति से मनुष्य को बहिर्मुखी बनाकर - परमात्मा के पुत्रों को 'परमात्मा से दूर' करके, 'परमात्मा की शक्ति' पर अविश्वास जागृत करने में सफल हो जाती है और परमात्मा के पुत्रों को रोने के लिए बाध्य कर देती है। परमात्मा, उस 'शक्ति' का नाम है-जो जीवों के 'मन का बल' है। अत: परमात्मा से दूर होने पर, मन निर्बल होता जाता है। निर्बल मन, उसे कहते हैं-जो छोटी से छोटी समस्या आने पर, विचलित होकर-दु:खी हो जाए। बलवान मन, वह है-जिसे जीवन की बड़ी से बड़ी समस्या विचलित न कर सके।

अध्यात्म के इतिहास में ऐसे कितने ही उदाहरण मिलते हैं-

(1) मीरा को विष का प्याला पीने को कहा-लेकिन वह विचलित नहीं हुई।

(2) सती सावित्री को अपने पति के जीवन दान के लिए, काल से लड़ना पड़ा। काल हार गया-सती सावित्री की जीत हुई।

(3) विश्वामित्र जैसे बड़े योगी ने, राजा हरीशचन्द्र से मात्र एक बार झूठ बोलने के लिए बाध्य करने में अपनी शक्ति लगा दी-परन्तु राजा हरिश्चन्द्र और उनकी पत्नी का मन विचलित नहीं हुआ ओर वे झूठ नहीं बोले।

ये उदाहरण उन व्यक्तियों के हैं-जिन्हें माया, अपने चक्र में फंसाने में सफल नहीं हो पाई-अत: वे कमजोर नहीं हुए। जो भी व्यक्ति-माया के चक्र को तोड़कर, 'सत्य' के रास्ते पर निकल जाएगा-कहने का अर्थ यह है कि जो परिश्रम का रास्ता छोड़कर-आराम (Relax) के कर्मों में सिद्धि प्राप्ति की ओर अग्रसर होकर, मन में अधिक से अधिक 'ब्रह्म की शक्ति' पिरोकर उसे तर बतर करने में व्यस्त हो जाएगा-वह किसी न किसी दिन, इसी या दूसरे जन्म में 'ब्रह्म समाना', अवश्य हो जाएगा।

यह पृथ्वी कर्म विद्यालय है। यहां 'ब्रह्म की शक्ति' से अपूर्ण जीव-अर्थात् परमेश्वर के पुत्र, अपने को 'पूर्ण करने की कर्मविद्या' की प्राप्ति के लिए आते हैं। इस विद्यालय की स्थापना के अंतर्गत, अपने पुत्रों के सुखों के लिए-परमेश्वर ने 33 करोड़ देवताओं की नियुक्ति कर दी-जो उन्हें हर तरह के सुख के साधन

प्रदान करते रहें। इन देवताओं और समाज के मनुष्यों के बीच एक प्राकृतिक नियम बना-प्राकृतिक नियम यह है कि परमात्मा के जो पुत्र, जिस अनुपात में कर्म विद्या की पढ़ाई में व्यस्त हों-उसी अनुपात में अलग अलग मनुष्यों को, ये देवता-जीवन के सारे सुख प्रदान करें। फलस्वरूप, जो मनुष्य कर्म विद्या में व्यस्त हुए-वे 'योगस्थ' होकर इन्द्रिय सुख के लिए कर्मेन्द्रियों का प्रयोग करने लगे। वे भरपूर 'आत्मसुख' के साथ साथ भरपूर इन्द्रिय सुख भोगने में भी सफल हुए।

ऐसे व्यक्ति, 'माया के चक्र' से बाहर निकल जाते हैं। शेष व्यक्ति, 'माया के चक्र' में धंस जाते हैं। माया के चक्र में धंसने के कारण, वे 'आत्म धन' को अपना धन न मान कर-इन्द्रिय धन और वस्तुओं को अपने सुख का माध्यम समझने लगते हैं। सच्चाई यह है कि सब कुछ 'ब्रह्म' का है। कर्म विद्यालय भी 'ब्रह्म' का है। कर्म विद्यालय के धन और सुख के साधन 'परा जगत' में इस प्रकार बेकार हो जाते हैं-जैसे एक देश की मुद्रा, दूसरे देश में बेकार हो जाती है।

इन्द्रिय जगत के सारे सुख साधन, परमात्मा के पुत्रों के हैं। जो भी इस संसार को छोड़ता है-वह अपने सारे सुख साधनों को दूसरे भाई बहनों के प्रयोग के लिए छोड़कर 'परा जगत' में चला जाता है। यह जीवन सत्य, 'आत्मज्ञान' में व्यस्त विद्यार्थियों को सरलता से दिख जाने के कारण, इन्द्रिय जगत छूटने के समय, 'इन्द्रिय जगत के धन' का छूटना, दु:खदाई नहीं होता। यह जीवन सत्य है।

परन्तु माया के चक्र में फंसे हुए व्यक्तियों को यह जीवन सत्य नहीं दिखता। और सामाजिक रिश्ते, उन्हें सत्य दिखते हैं। इस कारण, इस संसार को छोड़ते समय-वे जीवन सुख के साधनों को मायावश अपना समझ लेते हैं और उनके सुख साधन, मात्र उनके मायावी सामाजिक रिश्तेदारों को मिलें-ऐसे प्रयत्नों में व्यस्त हो जाते हैं। ऐसे प्रयत्नों से अर्जित थकावटों द्वारा, वे स्वयं अपने मायावी कर्मों से-अपना जीवन दु:खी बना लेते हैं।

माया का अर्थ है कि-सत्य कुछ और ही है, परन्तु महसूस कुछ और होता है। इसका अर्थ यह निकला कि मात्र महसूसियत की शक्ति बढ़ने से, माया कटेगी और महसूसियत की शक्ति घटने से, जीव 'सत्य' को अनुभव ना करने के कारण-माया के चक्र में फंसेगा।

मनुष्य भ्रमवश इन्हें सुख का साधन समझने की बजाय, 'सुख देने वाला आस्तित्व' मान लेता है। ऐसे लोग-इस भ्रम में कि इन वस्तुओं के संग्रह से हमें सुख मिल जाएगा-इन्द्रिय जगत के सुख के साधनों के संग्रह हेतु, इन्द्रिय जगत के कर्मों में अधिक से अधिक व्यस्त होने लगते हैं।

ज्यों ज्यों मनुष्य में 'इन्द्रिय जगत की व्यस्तता' बढ़ती है- त्यों त्यों उसकी 'अंतर्मुखी होने की व्यस्तता' कम होती है। ज्यों ज्यों अंतर्मुखी होकर कर्म करने की व्यस्तता कम होती है-त्यों त्यों वह इस सच्चाई से दूर होने लगता है कि; जीवन का सुख तो मन में मात्र 'ब्रह्म की शक्ति' पिरोने में है। अर्थात् 'ब्रह्म की शक्ति' मन में पिरोकर, मन में 'ब्रह्म तत्व' के तीन गुण, सत्-चित्-आनन्द उत्पन्न करने में है। 'ब्रह्म की शक्ति', होनी के रूप में इन्द्रिय जगत में कार्यरत रहती है। सृष्टि की सारी इच्छाएं, किसी-न-किसी 'मन' की हैं और जो 'मन', अपने में 'ब्रह्म की शक्ति' पिरोकर-अपने में 'होने की शक्ति' उत्पन्न कर लेता है-उसकी 'होनी की शक्ति', उसकी इच्छाओं की पूर्ति की ओर कार्यरत हो जाती है; इस तरह 'ब्रह्म' स्वयं ऐसे मनुष्यों के सारे कार्य करने लगता है। इसीलिए गीता (18.66) में स्वयं श्री कृष्ण ने कहा है :-

सर्व धर्मान परित्यज, मामेकम् शरणम् ब्रज।

अहम् त्वा अर्थ पापेभ्योः, मोक्ष्य दिव्यामि मा शुचः॥

तज धर्म सारे एक मेरी ही शरण को प्राप्त हो।

मैं मुक्त पापों से करूंगा तू न चिन्ता-व्यक्त हो॥

Surrendering all your duties to Me totally,
Take thou refuge in Me only,
I shall absolve you of sins and sinful thought,
I am thy protector, worry you not.

सन्त तुलसीदास भी उन महात्माओं में से थे-जो मात्र 'होनी की शक्ति' के आधार पर अपना जीवन बिताते थे। 'होनी की शक्ति' बढ़ाने के लिए, मन को हर समय 'आन्तरिक क्षेत्र के कर्मों में व्यस्त' रहना पड़ता है। 'आन्तरिक क्षेत्र' के कर्म, आराम के कर्म होते हैं और आराम के कर्मों में सन्त तुलसीदास जैसे सिद्ध

व्यक्तियों के सारे कार्य 'स्वयं ब्रह्म' करता है-दूसरे शब्दों में मनुष्य, मात्र 'आराम के माध्यम' से, अपना जीवन बिताता है। अपनी इस अनुभूति को उन्होंने निम्न चौपाई द्वारा व्यक्त किया -

जो इच्छा करिहौ मन माहीं।

हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥

'आराम के कर्म' की विशेषता यह है कि आराम (Relax) मनुष्य को थकावट से दूर ले जाता है। संसार की कोई भी वस्तु हो-वह किसी को रुचिकर लगती है और किसी को नहीं लगती; परन्तु पूरी सृष्टि में एक भी जीव ऐसा नहीं है-जिसे 'थकावट' रुचिकर लगती हो।

सृष्टि की सबसे खराब अनुभूति-थकावट है।

थकावट, हानिकारक भी है। बाल अवस्था में शरीर में थकावट की परतें न होने के कारण ही 'बाल जीवन' बहुत ही सुखदाई होता है। ज्यों ज्यों बच्चे की आयु में वृद्धि होती है-उसके बहिर्मुखी कर्मों में भी वृद्धि होती है। 'ध्यान' की कमी में, मात्र निद्रा के समय के कर्मों द्वारा बहिर्मुखी कर्मों की कुछ थकावट निकल जाती है-शेष थकावट की पर्तों का संग्रह शरीर में होने लगता है। इन थकावटों के कारण ही शेष आयु का जीवन, 'बाल अवस्था' के जीवन से ज्यादा सुखदाई नहीं हो पाता। मात्र महान् आत्माओं (महात्माओं) का जीवन 'बाल अवस्था' से भी ज्यादा सुखदाई हो जाता है। क्योंकि, ज्यों ज्यों जीवात्मा महान होने की ओर अग्रसर होती है-त्यों त्यों उनके जीवन में आराम के क्षण बढ़ने लगते हैं और मेहनत के 'कर्म' घटने लगते हैं। ऐसे मनुष्य की 'आराम की क्षमता' भी बढ़ जाती है।

मनुष्य के पास पांच ज्ञानइन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां हैं। जिन व्यक्तियों के जीवन में आराम के कर्म धीरे धीरे घटने लगते हैं और परिश्रम के कर्म बढ़ने लगते हैं-वे 'माया के चक्र' में धंसने के कारण अपनी ज्ञानेन्द्रियों के सुख के भोग हेतु, कर्मेन्द्रियों को अधिक से अधिक व्यस्त रखते हैं।

माया यह है - कि इन्द्रिय सुख का रूप सुखदाई है, परन्तु 'नर्क का सुख' होने के कारण, इन्द्रिय जगत के सुखों का फल - अत्यन्त दु:खदाई है। माया के कारण, समाज के साधारण मनुष्यों को इन्द्रिय सुख का रूप तो दिखता है-परन्तु

कर्म की शक्ति केवल शरीर के अन्दर है। इसीलिये निद्रा के समय, मन के माध्यम से पूरे शरीर को फिर बाह्यजगत के कर्म की शक्ति मिल जाती है। अर्थात् 'कर्मकाण्ड का सिद्धान्त' यह है कि

(1) इन्द्रियों के क्षेत्र में कर्म द्वारा शक्ति केवल खर्च होती है और

(2) आन्तरिक क्षेत्र में कर्म, शक्ति प्राप्ति के कर्म हैं। शक्ति का भण्डार ईश्वर है।

वो कर्म, जिन कर्मों से शक्ति प्राप्त होती है-वो 'उपासना के कर्म', कहलाते हैं। उप का अर्थ है-समीप। आसन का अर्थ हैं-जगह। अर्थात् ईश्वर के नजदीक पहुंचने के कर्म।

पूर्ण जागृति को ईश्वर कहते हैं - अर्थात् ज्यों ज्यों मन उपासना के कर्मों के माध्यम से, ईश्वर के नजदीक पहुंचता जाता है-मन की जागृति बढ़ती जाती है।

फलस्वरूप, मन ज्ञानी होता चला जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि; मन ईश्वर के समीप रहकर, भ्रमण करता है। इन भ्रमण के कर्मों को 'ज्ञान देने वाले कर्म' कहते हैं। ऐसे सारे कर्म 'ज्ञान काण्ड' के कर्म कहलाते हैं।

ब्रह्म; अर्थात् होनी

बिना कर्म के किसी को कुछ नहीं मिलता।

कर्म माध्यम है-मन की इच्छाओं को पूरा करने का। हम यह भी जानते हैं कि यह सृष्टि दो भागों में बंटी है-शरीर के बाहर और शरीर के अन्दर। शरीर के बाहर का क्षेत्र-'करनी का क्षेत्र', है। मन का भ्रमण ही कर्म है। परन्तु शरीर के बाहर के क्षेत्र में मन, केवल इन्द्रियों के माध्यम से भ्रमण करता है। अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये तो इन्द्रियों के माध्यम से जहां भी जाता है, बुद्धि के माध्यम से जो कुछ भी पाने की कोशिश करता है-पा लेता है। हर चीज पाने की अपनी एक जगह है।

शरीर के अन्दर का क्षेत्र-'होनी का क्षेत्र' है। इस क्षेत्र में मन का भ्रमण 'होनी के क्षेत्र के कर्म' हैं। मनुष्य, जिन इच्छाओं के साथ 'होनी के क्षेत्र' में भ्रमण करेगा-उसकी इच्छाएं, 'होनी' अपनी शक्ति के अनुसार पूरी करे या ना करे- परन्तु इच्छाओं की पूर्ति के लिये मन का भ्रमण 'होनी के क्षेत्र' में जो शक्ति का

क्षेत्र है-अति आवश्यक है।

'होनी का क्षेत्र' मात्र अपनी शक्ति के अनुसार इच्छाओं को पूरा करेगा-इसका क्या अर्थ है? इन्द्रियां और बुद्धि से परे क्षेत्र के विचारों का एक सागर है। सागर में, मन के चेतस्तर का कोई ना कोई स्थान है। मन का चेतस्तर, सागर की सतह से जितना दूर रहेगा और विचार उदगम् स्थान से जितना समीप होगा-अर्थात् सागर के धरातल से जितना समीप होगा, उतनी ही 'मन की शक्ति' अधिक होगी और यह शक्ति मन के कर्म की शक्ति होगी। इसी 'कर्म की शक्ति' के आधार पर मन, अपनी समस्त इच्छाओं को बिना किसी मेहनत के-अर्थात् मात्र 'होनी की शक्ति' के माध्यम से पूर्ण कर लेगा। मन की इस शक्ति को सन्त तुलसीदास ने 'ब्रह्म या हरि का प्रसाद' कहा है-

'जो इच्छा करिहों मन माही। प्रभु प्रसाद कछु दुर्लभ नाहि।' ❑

मायावी चेतना

—प्रस्तुति : श्री सतनारायण शर्मा (09416164702)

संसार में यह प्रचलित है कि सारी सांसारिक वस्तुओं को पाने के लिए परिश्रम,-माया में फंसना है। अत: यह मान्यता होने लगी कि सांसारिक वस्तुएं ही, माया हैं।

माया का सन्धि विच्छेद है-मा + या।

मा का अर्थ है-नहीं और या का अर्थ है-जो।

अर्थात् जो है नहीं, परन्तु लगता है-कि है।

दूसरे शब्दों में हमें यह भ्रम हो जाता है कि-यह है; और इसीलिए हमें माया से मोह हो जाता है कि-यह है; भ्रम की दुनिया में रहने वाला जीव जीवन की सच्चाईयों से धीरे धीरे दूर होता जाता है। सच्चाईयों से दूर हो जाना-मनुष्य के दु:खों का कारण बन जाता है।

उदाहरण : इन्द्रिय जगत का धन और इस धन से खरीदी हुई वस्तुएं माया नहीं हैं। इन्द्रिय जगत का धन और वस्तुएं तो, राम और कृष्ण के पास भी थे।

सत्य यह है कि ये, मात्र इन्द्रिय जगत के सुखों के साधन हैं।

परमात्मा' का अनन्त जड़ों से विवाह, के माध्यम से उत्पन्न, मनुष्य भी 'परमात्मा का अंश' कहलाता है। परमात्मा पूर्ण ज्ञानी है। ज्ञान, केवल जागने वाले को है-सोने वाले को नहीं है-अर्थात् परमात्मा के पास वो जागृति है, जिसमें 'पूर्ण सृष्टि का ज्ञान' समाया हुआ है। परमात्मा के अंश में आंशिक जागृति है, इसलिये वह परमात्मा का अंश कहलाता है।

जीवों में केवल मनुष्य एक ऐसा जीव है-जो अपने को आन्तरिक जगत में भ्रमण कराकर (ध्यानकर्म द्वारा), अपनी जागृति बढ़ाते बढ़ाते पूर्ण जागृति को प्राप्त हो सकता है - अर्थात् 'परमात्मास्वरूप' हो सकता है, अर्थात किसी भी मनुष्य की जीवात्मा ध्यान कर्म द्वारा 'परमात्मा स्वरूप' हो सकती है।

'चेतना क्या है?'

परमात्मा और परमात्मा के अंश में अन्तर, केवल उनकी अलग अलग जागृति के कारण है। शास्त्र में 'सम्पूर्ण जागृति' को सात भागों में बांट दिया, आत्मज्ञान का लक्ष्य होता है-पूर्ण जागृति की प्राप्ति।

जागृति में अनुभव करने की शक्ति है : अनुभव को ही, ज्ञान कहते हैं। दूसरे शब्दों में जागृति में ही ज्ञान है।

(1) निद्रा सबसे छोटी जागृति है। क्योंकि निद्रा टूटने के बाद हमें निद्रा का ज्ञान हो जाता है कि हमें कैसी निद्रा आई। यदि यह ज्ञान होना असंभव होता-तो निद्रा जागृति नहीं होती।

(2) दूसरी जागृति स्वप्न है-जो हमें अनुभव कराती है कि स्वप्न के समय मन, हमारे 'आन्तरिक क्षेत्र' के किन अंकितभावों में भ्रमण कर रहा था।

(3) तीसरी जागृति हमें इन्द्रिय और बुद्धिजगत में भ्रमण का ज्ञान कराती है।

(4) चौथी जागृति हमें इन्द्रिय और बुद्धिजगत को छोड़कर, मन 'आन्तरिक क्षेत्र' के किन भागों में भ्रमण करता है-इसका ज्ञान कराती है।

(5) 'आन्तरिक क्षेत्र' में भ्रमण करके, मन योगशक्ति लेकर बाहर आये और इन्द्रियजगत में कर्म करे-इससे योग की शक्ति, इन्द्रियों में और इन्द्रिय जगत के क्षेत्र में पिरोयेगी। इससे एक नई अनुभूति प्राप्त होती है कि हमारी इच्छाओं की

पूर्ति, थकावट से भर देने वाली, (मेहनत से भरे कर्मों द्वारा), नहीं होती। बल्कि योगशक्ति, इन्द्रियजगत में पिरोने से होगी। यह एक नई अनुभूति उत्पन्न होती है और यह पांचवें स्तर की अनुभूति है।

इन अनुभूतियों के लिये मन को केवल आन्तरिक क्षेत्र में भ्रमण करने का अभ्यास करना है। बढ़ते हुए अभ्यास के साथ साथ हमें अनुभव होने लगता है कि मन की समस्त इच्छाओं की पूर्ति, मात्र मन में पिरोयी हुई इच्छाशक्ति है और इन्द्रियजगत के कर्म नहीं।

(6) छठी अनुभूति की प्राप्ति तक मनुष्य अपनी हर इच्छा की पूर्ति कर सकता है, परन्तु केवल समय आने पर।

(7) यदि वह साधना में आगे बढ़ता ही जायेगा, तो सातवीं अनुभूति यह होगी कि अब वह अपनी इच्छाओं को तत्काल पूर्ति करने योग्य हो गया है-अर्थात् समय पर भी उसने विजय प्राप्त कर ली है। ऐसा मनुष्य, अपने को 'परमात्मास्वरूप' मानने के लिए बाध्य हो जाता है।

ऊपर बताये हुये अनुभव, तब प्राप्त होते हैं-जब 'अनुभवशक्ति' बढ़ती ही चली जाती है। अनुभवशक्ति को शास्त्रों में, चेतना (consciousness) कहा गया है। इस प्रकार से पूर्णचेतना को सात चेतनाओं में बांट दिया गया है। ❏

कर्म; मन की इच्छाओं को पूरा करने का माध्यम

✍ प्रस्तुति : श्री गंगाधर बंसल (09416041346)

यह सृष्टि, दो हिस्सों में बंटी है-शरीर के बाहर और शरीर के अन्दर।
सन्त तुलसीदास ने कहा-'कर्म प्रधान विश्व करिराखा'।
इस विश्व में, बिना कर्म के कुछ भी नहीं हो सकता है।
मन के भ्रमण को कर्म कहते हैं-यही कर्म की परिभाषा है।

मन स्वयं इन्द्रियजगत में नहीं आता। दसों इन्द्रियां शरीर में हैं। इन इन्द्रियों के माध्यम से मन, शरीर के बाहर ब्रह्माण्ड में भ्रमण करता है। बाहर के भ्रमण से, इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं और शक्ति के लिये निद्रा की अवस्था में 'आन्तरिक क्षेत्र' में चली जाती हैं।

मनुष्य का जन्म क्यों हुआ?

जन्म का उद्देश्य और लक्ष्य क्या है?

संसार में केवल परमात्मा है। मात्र जो है-वही अनुभव में आता है और उसी को 'सत्' कहते हैं। जो अनुभव में नहीं आता-वो केवल कल्पना (माना हुआ) है-अर्थात् केवल बुद्धि की उपज है। परमात्मा पूर्ण है। परमात्मा प्रकट होने की शक्ति है। पूर्ण होने के कारण, वह केवल अनन्त अपूर्णों में प्रकट हो सका है। ये अपूर्ण समाज में तीन अवस्थाओं में पाए जाते हैं-निर्जीव वस्तुएं, वनस्पति जगत और जीव। समय बीतने के साथ साथ परमात्मा के संरक्षण में 'जीव का विकास' हुआ और धीरे धीरे समय आने पर उसने मनुष्य का रूप धारण किया।

मनुष्य के जीवात्मा की अवस्था ऐसी है कि वो सूक्ष्म और स्थूल कर्म करने योगय है और अपने कर्मो के आधार पर आगे का विकास करता है।

सन्त तुलसीदास के अनुसार -'जीव' परमात्मा का पुत्र है-अर्थात् परमात्मा पिता है। हर पिता की इच्छा होती है कि उसका बेटा उससे कम ना हो।

जीव 'भावातीत' होकर, अपने में 'परमात्मा की शक्ति' पिरोकर-अपने को 'परमात्मा स्वरूप' बना सकता है। यही जीवन का लक्ष्य है। अपने में 'परमात्मा की शक्ति' पिरोना ही, जीव के उत्थान का रास्ता है। कर्म करके जीव का उत्थान करते जाना-जीवन का उद्देश्य है।

इन्द्रियजगत, आत्मज्ञान का विद्यालय है।

मात्र यहां पर रहकर, जीव अपने को 'आत्मज्ञान की विद्या' से पूर्ण कर सकता है। इसीलिए सारे अपूर्ण जीव-जो इस विद्या से पूर्ण हो सकते हैं, मात्र इन्द्रियजगत में जन्म लेते हैं। जीव अनन्त प्रकार के हैं और इनका विकास 'परमात्मा के संरक्षण' में होता है। ज्यों ज्यों जीव का विकास होता है-जीव का शरीर बदलता है। यह सब प्रकृति द्वारा होता है। विकास होते होते जीव, मनुष्य का शरीर धारण कर लेता है। पूरी सृष्टि में केवल मनुष्य, अपने में 'भावातीत क्षेत्र की शक्ति' पिरोने के कर्म के माध्यम से अपने को 'ईश्वरीय शक्ति' से तरबतर करके 'ईश्वर स्वरूप' बन

सकता है।

ऊपर बताये हुए आत्मज्ञान का रास्ता यह है, कि मनुष्य कुछ समय निकालकर एकान्त में, अन्धेरे में, आंखें बन्द करके, किसी कुचालक (बैड कन्डकटर) पर, सुविधाजनक आसन में बैठकर, एक बार ईश्वर के किसी नाम को स्मरण करके-मन को स्वतन्त्र छोड़ दे। ऐसा करने से मन 'भाव का क्षेत्र' छोड़ देता है और 'भावातीत क्षेत्र' में स्नान करके, 'भावों के क्षेत्र' में वापिस आ जाता है और फिर अपने में 'भावातीत क्षेत्र की शक्ति' पिरोकर-क्रियाओं के क्षेत्र में आए और क्रिया के क्षेत्र में स्थूल कर्म करे - इस पूरी प्रक्रिया को गीता में श्रीकृष्ण भगवान् ने, तीन शब्दों में -'योगस्थ कुरु कर्माणि' द्वारा दर्शाया है। इस कर्म द्वारा साधक इन्द्रियजगत में 'ब्रह्म की शक्ति' पिरोता है। जयों ज्यों जिस साधक के वातावरण में, जितनी 'ब्रह्म की शक्ति' पिरोती जायेगी-त्यों त्यों समय बीतने के साथ साथ साधक का जीवन, अधिक सुखमय होता जाएगा। इस सिद्धान्त के आधार पर - जो साधक अपने जीवन को जितना सुखमय बनाना चाहे, बना सकता है।

ईश्वर अंश जीव अविनाशी

पूरी सृष्टि में केवल एक सत्य है-उसी का नाम ईश्वर है और वह अद्वैतजगत में है। अद्वैतजगत को भावातीत क्षेत्र भी कहते हैं। परमात्मा निर्गुण निराकार है और 'अद्वैत तत्व का सागर' है। इस सागर की सतह पर अनन्त जड़ों के रूप में वह स्वयं प्रकट हो गया। इन जड़ों को अस्तित्व प्रदान करने के लिये, इनमें पिरो गया। इसे शास्त्र ने 'परमात्मा को अनन्त जड़ों से विवाह', के रूप में दर्शाया। इससे 'अद्वैत जगत के तत्व'-निर्जीव वस्तुएं, वनस्पति जगत और जीवात्मायें, प्रकट हुईं। जीवात्माओं को शास्त्र में ईश्वर का अंश बताया।

जीवात्माओं में केवल मनुष्य स्वयं कर्म करके

अपने कर्मफल के आधार पर, अपना जीवन संवारने योग्य है।

जिस प्रकार से हम समाज में देखते हैं, कि 'नर और मादा के विवाह', से पुत्र उत्पन्न होता है। परन्तु पुत्र, केवल पिता का अंश कहलाता है। मां की कोख में पुत्र बाहर आने से पहले पलता है। इसी प्रकार से ऊपर बताये हुये 'निर्गुणनिराकार

दुनिया की बातें और होती हैं, पर भगवान् के रास्ते का तो कहना ही क्या है? बस, हमारा लक्ष्य सच्चा और पक्का होना चाहिए। कई बार देखने का और सोचने का तरीका, हमारा बदल जाता है, क्योंकि मानव तो मानव ही रहेगा।

जैसे मैंने सुनी, एक कहानी- एक भक्त भगवान् को पक्के से मानता था। प्यार, सेवा-सब था उसमें। एक दिन भगवान् से कहने लगा-मुझे आज तक कोई अनुभूति नहीं हुई-मेरी भक्ति की। भले दर्शन न दो, पर मुझे अनुभव हो कि आप हैं। भगवान् ने कहा-ठीक; तुम रोज समुन्द्र पर सैर करने जाते हो। कल तुम्हारे दो पैरों के साथ, दो मेरे भी पैर होंगे-ऐसा रोज होने लगा। बड़ा खुश हुआ यह देखकर। एक दिन किसी वजह से बड़ा निराश व हताश था। उसने देखा-सब उसका साथ छोड़ गए। यहां तक कि आज भगवान् के पैर भी उसके पैरों के साथ नहीं थे। यह देखकर तो वह बुरी तरह टूट गया। खैर वक्त बुरा गया और उसके साथ दो पैरों के निशान भी लौट आए। अब उसने भगवान् से शिकायत की-जब बुरा वक्त आया, सब गए। दुख नहीं हुआ, पर आप भी चले गए छोड़कर। बहुत दुख हुआ-ऐसा आपने क्यों किया? भगवान् ने कहा-ऐसा तुमने कैसे सोचा कि मैं अपने भक्त को बुरे समय छोड़ दूं? उसने कहा-निशान तो दो पैरों के थे-आपके थे नहीं। भगवान् ने कहा; जब दुख से टूटे हुए थे-तो मैंने तुम्हें गोद में उठाया हुआ था-तुम्हारे पैरों के निशान कैसे मिलते? अब तुम ठीक हो-अब मैंने गोद से तुझे नीचे उतार दिया-पैरों के निशान फिर चार हो गए।

मुझे यही कहना है कि भगवान् कभी साथ नहीं छोड़ते। सच तो यह-सब करने कराने वाले, वही हैं। ऐसा पक्का विश्वास, हमें अपना बनाना है और सच्चे मन से ध्यान का अभ्यास करना है। बाकी; वो जाने उसका काम। ❑

ध्यान क्या, क्यों, कैसे, कब, कहां और कितना हो?

✍ डॉ० बलदेव राज नाशा

मन ही जीव है। जीव के पास भ्रमण करने के लिये दो संसार हैं-

शरीर के अन्दर और शरीर के बाहर।

मन का भ्रमण, शरीर के अन्दर-'ध्यान' है। ध्यान किया नहीं जाता-मात्र इन्द्रियजगत और बुद्धिजगत से मन के हटने से मन का भ्रमण, मन और बुद्धि के 'संसार से परे

क्षेत्र' में हो जाता है; अर्थात् ध्यान किया नहीं जाता-हो जाता है।

मन कागज है-मन का भ्रमण 'कर्म' है। कर्म दो प्रकार के हैं-शरीर के बाहर और शरीर के अन्दर। शरीर के बाहर का कर्म-'लेखनी' (Pencil) है। शरीर के अन्दर का कर्म-जिसे हम 'ध्यान' कहते हैं, बाहर के कर्मों द्वारा मन पर लिखे हुये, को मिटाने वाला 'रबड़' (Eraser) है, जिससे वो फिर कोरा बना सके।

जीवन दो शक्तियों से बना है-करनी और होनी। 'करनी' के समय, बुद्धि और इन्द्रियां कार्यरत हो जाती हैं-जिससे मन एक प्रकार का 'कैसेट' बन जाता है। 'होनी' के समय मन का क्षेत्र, एक प्रकार का 'पर्दा' है। उस पर्दे पर होनी के समय अन्दर के कैसेट में जो होता है-वही बाहर आ जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'करनी' और 'होनी' द्वारा हमारा जीवन कैसे बनता है?

जीव के लिए इन्द्रियजगत का जीवन; सुखदायी है या दुखदायी?

ऊपर बताये गये 'ध्यान के कर्मों' द्वारा मन पर अंकित दुखदायी भाग मिट जाते हैं और सुखदायी भाग में बढ़ोतरी हो जाती है।

ध्यान करने के लिए जब हम एकान्त ढूंढ़ते हैं-तो कान के कर्मों से मन को छुटकारा मिल जाता है। अन्धेरे में आंख बंद करने से आंखों के कर्मों से छुटकारा मिल जाता है। सुविधाजनक आसन में कुचालक (बैड कण्डक्टर ऑफ इलैक्टरिसिटी), पर बैठने से गुरुत्वाकर्षण शक्ति (Earth) के प्रभाव से छुटकारा मिल जाता हैं। बैठ जाने से, बाकी सभी इन्द्रियों के 'कर्मों का बन्धन' से जीव मुक्त हो जाता है। एक बार मन में ईश्वर के किसी नाम को स्मरण करके मन को स्वतंत्र छोड़ने से-वह इन्द्रियों और बुद्धि, दोनों के बन्धनों से स्वतंत्र हो जाता है और 'आन्तरिक क्षेत्र' में मन भ्रमण करने लगता है। यही 'ध्यान' है।

'ध्यान' उस समय करना चाहिये-जब शरीर में कम से कम थकावट हो। अत: प्रात:काल के समय उठने के पश्चात् आधे घण्टे के अन्तराल में एकान्त और अन्धेरे में, लगभग आधे से एक घंटे तक के समय के लिये बैठ जाना और 'होनी पर समर्पित' हो जाना-जीवन को सुखी बनाने में मदद करेगा।

ध्यान द्वारा जीव का आत्मज्ञान बढ़ता है
और मन, जीवन में सुख के क्षेत्र का ज्ञानी हो जाता है।

'ब्रह्म तत्व' मन में पिरोकर वापस आता है-उतनी 'ब्रह्म की शक्ति' उसकी 'व्यक्तिगत शक्ति' हो जाती है। इस तरह हम देखते हैं कि अनन्त जीवों में ब्रह्म 'व्यक्तित्व ब्रह्म' के रूप में रहने लगता है। जिस प्रकार से 'संतरे का रस', एक फांक का हो या पूरे संतरे का हो-दोनों 'रस की शक्ति' अलग अलग हो सकती है, लेकिन गुण एक ही होते हैं और 'ब्रह्म शक्ति' का गुण है कि वह अपने को किसी भी गुण, रूप और आकार में प्रकट कर सकता है।

'ब्रह्म की शक्ति', आत्मधन है और आत्मधन वह धन है-जो बिना किसी प्रयास के किसी भी इच्छा को पूरा करने में सक्षम है।

इसीलिए सन्त तुलसीदास जी कहते हैं -

जो इच्छा करिहौं मन माहीं।

हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥

जीव की इच्छाएं, जीव के जीवन की आवश्यकताएं हैं और आत्मधन-वह धन है, जिसके माध्यम से जीव की आवश्यकताएं बिना किसी प्रयास के पूरी कर सकें। जीव का जीवन, उसका 'व्यक्तिगत ब्रह्म' ही चलाता है-जो कि मात्र 'व्यक्तिगत' होने के कारण, अपने में पूर्ण नहीं है और पूर्ण ब्रह्म, जो कि 'पूर्ण भावातीत क्षेत्र की शक्ति' है-वह अनन्त जीवों की 'व्यक्तिगत आवश्यकताओं' के अनुसार, इन आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु, अपने में 'ब्रह्म की शक्ति' पिरोने में निरन्तर लगा है।

मात्र मनुष्य के रूप में जीव, 'अनन्त शक्ति' पिरोने में सक्षम हैं। उनकी इच्छाओं या जरूरतों की अवस्थाएं अलग अलग हैं। उनकी 'व्यक्तिगत ब्रह्म की अवस्थाएं' भी अलग अलग हैं। यही कारण है कि किन्हीं भी दो व्यक्तियों का जीवन, एक जैसा नहीं है। सारे 'व्यक्तिगत ब्रह्म' में एक ही रस है। इसलिए शास्त्र यह भी मानता है कि सबका मालिक एक है।

'इन्द्रिय जगत' के जीवन में, समय में बदलाव बहुत ही महत्वपूर्ण है। 'व्यक्तिगत ब्रह्म' से व्यक्तियों के 'आनन्द और चेतनाओं' की अवस्था अलग अलग होंगी। ज्यों ज्यों मनुष्य की इच्छाओं पर समय का प्रभाव भी क्षीण होने लगेगा-त्यों त्यों हर अवस्था में जीव, स्वेच्छा का जीवन जीने योग्य हो जाएगा। ❑

करिए अभ्यास, पाईए विश्वास

✍ श्रीमती ऊषा गर्ग (मो० 09991846415)

जब आइने को साफ किया-तो 'मैं' नजर आया।

ऐ खुदा! जब 'मैं' को साफ किया-तो 'तू' नजर आया॥

सफाई हो जाती है; समय लगता है-असंभव नहीं है। पर थोड़ा अभ्यास जरूरी है-रोज का, तीन बार-बैठने का। आरंभ में तो हमें ध्यान देना पड़ता है-फिर भगवान् हमारा ध्यान रखते हैं। जो जरूरी होता है-वे हमारे से अपने आप करवा लेते हैं।

अब मैं अपना ही अनुभव आपको बताती हूं। काफी समय से लगातार अभ्यास करती हूं। पर अब कई दिनों से बैठने का न मन कर रहा है और न ही बैठ रही हूं। बताऊं क्यों? क्योंकि आज मैं लेटे लेटे भगवान् से बात कर रही थी कि ऐसा क्यों हुआ? अपने घर में बैठी थी, सब ठीक ठाक चल रहा था।

अचानक यह चारों धाम की यात्रा कहां से आ गई-मेरी जिन्दगी में? ऊपर वाले की कृपा से सब ठीक भी हो गया। बस अन्तिम दिन बुखार आ गया। फिर भी मुझे कुछ बड़ी बात ही लग रही थी। क्योंकि लगातार 11 दिन पहाड़ों का सफर करें-तो इतना तो बनता ही है। परन्तु बाद में शरीर के अन्दर से पुराना मल जो निकला-वो शायद घर बैठे निकलने वाला नहीं था। इसलिए भगवान् ने यह शरीर से इतना कठिन काम करवाया। या तो डॉक्टर के चक्कर में पड़ती, पर भगवान् ने अपने धाम भी करवा दिए, आराम भी करवा दिया और सफाई भी।

भगवान् से दोस्ती करी है-कुछ गलत तो होना नहीं है।

यह तो पक्का है-पर अब कई दिनों से बैठना बन्द हो गया। क्योंकि मन ही नहीं करता है-अब बैठने को। कोशिश करती हूं-तो मन बनाना पड़ता है। कभी भगवान् से प्रार्थना करनी पड़ती है; क्योंकि रोज के अभ्यास में कमी आई। यह तो वो ही बात हो गई; जो सड़क पर लिखा होता है-

सावधानी हटी-तो दुर्घटना घटी।

नहीं नहीं! हमने सावधानी से हटना ही नहीं और न ही, भगवान् हमें हटने देंगे।

शरीर के माध्यम से अधिक से अधिक 'ब्रह्म की शक्ति' प्रकट हो सकती है? यही 'जीवों के उत्थान' का कारण बना। जीवों का उत्थान होते होते जब पहला जीव 'मनुष्य' उत्पन्न हुआ – तो सारे देवी देवता खुश हुए।

मात्र मनुष्य के शरीर से ब्रह्म की इतनी शक्ति प्रकट हो जाती है कि जीव, जब चाहे-इन्द्रियों में प्रवेश करके 'स्थूल कर्मों' में व्यस्त हो जाए और जब चाहे-इन्द्रियों से अलग होकर 'सूक्ष्म कर्मों' में व्यस्त हो जाए। कर्म की यह क्षमता मनुष्य के अतिरिक्त, सृष्टि के किसी जीव में नहीं है।

सन्त तुलसी ने तो यहां तक कहा है :-

बड़े भाग मानुष तन पावा।
सुर दुर्लभ सद् ग्रन्थहिं गावा॥

प्रकृति की खोज कि किस शरीर द्वारा 'ब्रह्म की अधिक से अधिक शक्ति' प्रकट हो सकती है-हेतु, स्वयं ब्रह्म ने भिन्न भिन्न शरीरों द्वारा प्रकट होने की चेष्टा की और 'तीन मनुष्यों के शरीरों' द्वारा प्रकट हुए –

ये तीन मनुष्य-समाज में परशुराम, श्रीरामचन्द्र और भगवान कृष्ण के नाम से जाने जाते हैं। किसके शरीर का कितना विकास हो चुका है, जिससे अधिक से अधिक शक्ति प्रकट हो रही है-शास्त्र ने समझाने के लिये 'कला' शब्द का प्रयोग किया है-श्रीपरशुराम के शरीर द्वारा 10 कलाओं और श्रीरामचन्द्र के शरीर द्वारा 12 कलाओं की; मात्र भगवान कृष्ण के लिए कहा गया है कि ब्रह्म की 'पूर्ण शक्ति', अर्थात् 16 कलाओं की शक्ति, प्रकट हो गई। गीता अध्याय 11 में भगवान कृष्ण ने श्रीअर्जुन को यह अनुभव कराने के लिए कि वही सर्वव्यापी और सर्वशक्तिशाली ब्रह्म हैं-अपना 'विराट रूप' दिखाया।

शक्ति कितनी प्रकट हो रही है? लेखक की दृष्टि से इसकी एक यह पहचान है कि; कौन कितना 'इन्द्रिय जगत के जीवन बन्धनों से मुक्त' है? जो पूर्ण रूप से 'बन्धन मुक्त' है-वह अपने शरीर द्वारा 'ब्रह्म की पूर्ण शक्ति' प्रकट कर रहा है। अवतार लेने वाले तो सभी ब्रह्म हैं। जब भगवान कृष्ण के शरीर से 'पूर्ण शक्ति' प्रकट हो गई-तो प्रकृति की एक बहुत बड़ी खोज भी समाप्त हो गई और इसलिए कोई दूसरा अवतार भी नहीं पैदा हुआ।

व्यक्तिगत ब्रह्म

सन्त तुलसीदास ने कहा है-'कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करई, सो तस फल चाखा।' 'द्वैत जगत' के हर जीव द्वारा कर्म होना है। मात्र मनुष्य स्वेच्छा से कर्म करेगा और अपनी इच्छानुसार कर्म करके, अपना जीवन संवारने में सक्षम है। बाकी सारे जीवों को, जब तक मनुष्य देह की प्राप्ति नहीं हो जाती-तब तक उनके कर्म, 'हरि इच्छा के अनुसार' होते हैं।

हर जीव के पास एक शरीर है और हर शरीर में मन है। मन, ब्रह्म का पुत्र है और अविनाशी है। समाज में एक बच्चा पैदा होता है। जीव और जीव के विकास के सहारे, वह युवा अवस्था को प्राप्त हो जाता है और तब वह अपने को 'पूर्ण मनुष्य' कहता है। बिलकुल इसी प्रकार, हर जीव 'परमात्मा का बेटा' है और उसे अपना विकास करके-एक न एक दिन 'परमात्मा स्वरूप' हो जाना है। जीवों में मात्र मनुष्य स्वेच्छा से कर्म करके 'परमात्मा स्वरूप' हो सकता है।

ब्रह्म और केवल ब्रह्म है। अत: ब्रह्म का बेटा भी है। इसीलिए संत तुलसीदास जी ने भी अपनी रामायण में बेटों को अविनाशी कहा है। जीव सूक्ष्म जगत का निवासी है – अत: उसे मात्र सूक्ष्म जगत की शक्ति ही 'परमात्मा स्वरूप' बना सकती है। 'सूक्ष्म जगत की शक्ति', जीव को सूक्ष्म कर्मों के माध्यम से अपने में पिरोकर-अपना उत्थान करते जाना है – यही जीव की 'इन्द्रिय लोक की यात्रा' का लक्ष्य है।

उदाहरण : एक संतरे में कुछ फांकें होती हैं। हर फांक में संतरे के रस से भरे जवे होते हैं। सत्य यही है कि 'संतरा का रस' ही संतरा है। अन्तर केवल यह है कि रस, एक फांक का भी हो सकता है – परन्तु संतरा सारे फांकों का समूह है।

इसी तरह हम देख चुके हैं कि 'पूर्ण ब्रह्म', ब्रह्मतत्व का सागर है। इस सागर में स्नान करके हर जीव, अपने 'ब्रह्म तत्व' को बढ़ाता है-या यह कहें कि अपने में ब्रह्म को पिरोकर आ रहा है। यह ऐसे ही हाता है, जैसे एक मनुष्य गंगा जी में स्नान करने जाता है और जब वापिस लौटता है-तो कुछ गंगाजल किसी बर्तन में भरकर अपने घर लाता है और इस गंगाजल को वह 'अपना गंगाजल' कहता है। इसी प्रकार मनुष्य के तन में रहने वाला जीव, 'ध्यान' के कर्म के माध्यम से, जितना

ने कहा है-

जब मैं था तब हरि नहीं।
जब हरि है मैं नाहीं॥

सन्त कबीर ने ब्रह्म को ही 'हरि' कहा है। विचारों की अनुभूति, मात्र 'मन' को ही होती है। अर्थात् जब 'मैं' नहीं होता-तब 'मन' और मन में उठते विचार, 'बुद्धि से स्वतन्त्र' होते हैं। इस तरह हमें ज्ञान होता है कि 'ब्रह्म का क्षेत्र' तो बुद्धि से परे का क्षेत्र है।

ऊपर हमने समझा कि 'ब्रह्म का संसार' वहां से शुरु होता है-जहां 'बुद्धि के अधीन' वाले विचार, दसों इन्द्रियों की 'कार्य प्रणाली' और पृथ्वी की 'गुरुत्वाकर्षण शक्ति' समाप्त होते हैं। परन्तु 'ब्रह्म का संसार' समाप्त कहां होता है-यह बताना असम्भव है। अत: 'ब्रह्म का क्षेत्र', खुला क्षेत्र है-अर्थात् 'असीम और अनन्त' है। इस तरह समझ में आता है कि

असीम 'भावातीत क्षेत्र की पूर्ण शक्ति' ही, ब्रह्म है।

इस क्षेत्र का छोटे से छोटा क्षेत्र ही, ब्रह्म तत्व है और ब्रह्म, 'ब्रह्म तत्व का सागर' है। 'ब्रह्म तत्व' निर्गुण निराकार होने के कारण, सम्पूर्ण ब्रह्म 'निर्गुण और निराकार' है। परन्तु शास्त्र दर्शाता है कि;

संसार के सारे गुण मिल जाने से, निर्गुण की प्राप्ति होती है

और सारे आकारों के मिलने से, निराकार की प्राप्ति होती है।

इसका अर्थ यह हुआ कि 'गुणों का संसार' और 'आकारों का संसार'-एक वृक्ष है- जिसका बीज 'निर्गुण निराकार संसार' है और इसीलिए कहते हैं कि; अद्वैत से द्वैत निकला।

अद्वैत से द्वैत

अद्वैत, 'निर्गुण निराकार का एक सागर' है। परन्तु हर सागर का एक गुण है-वह गुण है, सागर में लहरों का उठना; लहरों का केवल आगे बढ़ना और पीछे न हटना। यह समझना कितना आसान है कि पृथ्वी पर पानी के सागर की लहरें तट पर पहुंचने के बाद समाप्त-इसलिए हो जाती हैं, क्योंकि वे आगे बढ़ने का रास्ता स्वयं

बनाने में असफल हैं। परन्तु ब्रह्म तो 'सर्वशक्तिशाली और सर्वव्यापी' है-उसने अपनी समस्या को 'अद्वैत से द्वैत' निकाल कर समाप्त किया।

अद्वैत से द्वैत कैसे निकला? इसे 'दर्शन शास्त्र' में इस प्रकार समझाया है कि अद्वैत की शक्ति-अपने को किसी भी रूप, आकार और गुण में प्रकट कर देती है। अद्वैत, पूर्ण चेतन है। पूर्ण चेतन का विलोम-पूर्ण अचेतन हुआ। अत: सागर रूपी ब्रह्म ने अपने को, सागर के तट पर अनन्त पूर्ण अचेतनों (जड़ों) में प्रकट कर दिया-इसके पश्चात् इन अचेतनताओं से विवाह कर लिया, जिससे अचेतन, अनुभव के क्षेत्र में आने योग्य हो जाएं। समाज अच्छी तरह जानता है कि विवाह के बाद बच्चों का आकार या गुण किसी न किसी सम्बन्धी से मिलता जुलता होता है।

पूर्ण चेतन और पूर्ण अचेनताओं का कोई सम्बन्धी नहीं हैं।

इसलिए उनके बच्चे, या तो मां पर जाएंगे या पिता पर। अनन्त जड़ों से विवाह द्वारा, परमात्मा के अनन्त बच्चे हुए। ये बच्चे, तीन भागों में विभाजित हो गए-जो बच्चे, अचेतन माँओं पर गए-उन्हें समाज ने निर्जीव वस्तुएं कह दिया और जिन बच्चों में परमात्मा का कुछ अंश बढ़ा (और परमात्मा का अंश बढ़ने के कारण उनमें बदलाव की गति-इन्द्रियों को अनुभव होने लगी, परन्तु 'मैं' की जागृति नहीं होने पाई)-ऐसे बच्चे 'वनस्पति जगत' द्वारा पहचान में आये। जिन बच्चों में परमात्मा का अंश बढ़ता ही गया और 'मैं' की भी जागृति हो गई-वे 'जीव' के नाम से जाने जाते हैं।

ऊपर बताए हुए तीनों प्रकार के परमात्मा के बच्चों को, एक शरीर भी प्राप्त हुआ। लेखक इस लेख द्वारा साधकों को यह भी बताना चाहेगा कि ये शरीर क्या हैं? अद्वैत को; अद्वैत जगत से द्वैत जगत में प्रकट होना है-इस प्रकट होने के माध्यम को 'शरीर' कहते हैं। यही 'शरीर की परिभाषा' होगी। समाज के मनुष्यों को यह अनुभव है कि 'निर्जीव वस्तुओं के शरीर' द्वारा ब्रह्म की शक्ति अधिक प्रकट नहीं हो पाई। इसी कारण वश, समाज ने इन्हें 'निर्जीव' कहा। समाज में यह मान्यता भी है कि 'वनस्पति जगत' में भी प्राण है।

जीव अनन्त प्रकार के हैं। कीड़े, मकौड़े जैसे जीवों में भी समाज का हर प्राणी मानता है कि इनमें प्राण हैं। जीवन सत्य तो यह है कि; किस प्राणी के

बातें होती हैं और यदि मन, एक ही विचार रखना चाहे-तो उसका स्थान दूसरा विचार आकर ले लेता है। इस प्रकार, हमारा जीवन स्वयंमेव सुषुप्ति अवस्था में 'विचार शून्यता' की स्थिति में भी रहता है। वह कई घंटे 'विचार शून्यता' में और; कई घंटे अनेक विचारों में रहता है। इसीलिये उसे एक ही विचार पर स्थिर रखना और उस विचार को स्थायी बनाना सम्भव नहीं है।

सम्भव यह है कि आत्मा की स्थिति, बिना 'आत्मा का मनन' किये-स्थायी बनायी जा सकती है। वह न तो विचार ही है और न ही मनन है। वह जीवन की एक स्थिति है। यह बहुत महत्वपूर्ण है। हम उस स्थिति का जीवन चाहते हैं। केवल उसे सत्य के छलावे या धोखे में-या केवल मनोरंजन के रूप में ही, लेकर न रह जायं। इतने बहुत से गुरुओं की शिक्षा-जो लोकप्रिय होनी चाहिए थी, आत्म चेतना को स्थापित करने में असफलता की कहानी कह रही है।

तो विचार के स्तर पर, 'आत्म चेतना' स्थापित करना-आत्मा का केवल विचार ही है - आत्मा की यथार्थता नहीं है। इसलिये 'आत्म चेतना' - पहले तो इस रीति से स्थायी नहीं बनायी जा सकती, दूसरे वह केवल एक विचार होने से-'आत्म स्थिति' का लाभ नहीं दे सकती। आत्मा का विचार-आत्मा का विचार मात्र है, वह 'आत्म स्थिति' नहीं है। इसलिये हम अधिक व्यावहारिक और यथार्थवादी होना चाहते हैं और; विचार सत्य में करने की सलाह दी और इसके लिये सभी प्रकार की सुन्दर शब्दावली उन्होंने उपयोग की। मार्ग, 'भावातीत चेतना' है और लक्ष्य, इस असीमता-यथार्थता को प्राप्त करना। परन्तु यह भूल गये कि जीवन के स्वभाव के ही आधार पर, हम कितनी सरलता से 'भावातीत' हो सकते हैं। जिन्होंने आत्म अनुभव की वकालत की, वे केवल आत्म विचार रूपान्तरित करना चाहते हैं।

तुरीय चेतना की यथार्थता ऐसी नहीं है- जो हमारे क्रियाशील रहते समय-विलुप्त हो जाय। वह हमारे साथ जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति-तीनों की चेतनाओं में विद्यमान रहती है। सभी समय की यथार्थता का अर्थ है कि -क्रियात्मक यथार्थता के जीवन के साथ सुषुप्ति की शान्ति, जागृति की क्रियाशीलता और स्वप्न की भ्रामकता का अनुभव 'आत्म चेतना' के प्रकाश में हो। उस समय आत्मा-जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति के अनुभवों की प्रत्यक्ष द्रष्टा होती है। अत: हम व्यावहारिक और प्रत्यक्षवादी

होना चाहते हैं। हम एक भ्रम में रहकर, विचार के क्षेत्र में कुछ समय के लिये वृत्ति बनाने के प्रयत्न से ही-सन्तुष्ट नहीं रहना चाहते। वह बहुत सतही प्रयास है-जिससे हमें किसी भी स्तर पर सन्तोष नहीं हो सकता। अनुभव और ज्ञान दोनों होना चाहिए। ❑

अद्वैत

(1936-2009)

✍ **डॉ० शम्भूनाथ**

यह सृष्टि दो भागों में बंटी है - शरीर के अन्दर और शरीर के बाहर।
शक्तियां भी दो हैं-अद्वैत की शक्ति और द्वैत की शक्ति।
अद्वैत की शक्ति ही, सबसे बड़ी शक्ति है।
ब्रह्म और ईश्वर, सर्व शक्तिशाली और सर्वव्यापी हैं।
ईश्वर ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही 'अद्वैत' है।
ये सब निर्गुण निराकार हैं।
अद्वैत, शरीर के अन्दर का संसार है।
शरीर के बाहर के संसार को ब्रह्मांड कहते हैं
और अंदर के संसार को पिण्ड कहते है।

यदि हम शरीर के अन्दर की अनुभूतियों की ओर अपना ध्यान ले जाएं-तो शरीर के अन्दर हमें मात्र विचार ही विचार अनुभव में आते हैं। अन्दर के सारे विचार-दो तरह के विचारों में बंट जाते हैं। सोते समय और स्वप्न के समय विचार तो आते हैं, परन्तु कोई नहीं जानता कि वह सो रहा है या स्वप्न देख रहा है-अर्थात् इस समय के विचारों के समय, किसी का 'मैं' सक्रिय नहीं होता।

जब 'मैं' सक्रिय नहीं होता-तब हमारे विचार, हमारी 'बुद्धि के अधीन' नहीं होते। परन्तु जैसे ही स्वप्न समाप्त होता है और इन्द्रिय जगत की जागृति सक्रिय होती है-उसी के साथ साथ मनुष्य का 'मैं' भी सक्रिय हो जाता है और विचार, 'बुद्धि के अधीन' हो जाते हैं। इन दो तरह के विचारों के विषय में सन्त कबीर जी

कहेंगी-हमारी नहीं सुनेंगी। इसलिए शास्त्रों ने गुरु की महत्ता को बताया है। गुरु के विषय में भी देखना होगा कि, कौन सा गुरु हमारा ठीक 'मार्ग दर्शन' कर सकेगा।

12.1.1918
8.2.2008

ध्यान और कर्म का उज्ज्वल पथ

✍ **महर्षि श्री महेश योगी**

प्रश्न : जो नियमित रूप से 'भावातीत ध्यान' करते हैं- उनमें भावातीत होने की स्वाभाविक योग्यता विकसित होती है और वे 'जीवनपोषणकारी कार्य' करते हैं। यदि ऐसा है-तो इसमें कौन सी प्रक्रिया निहित है?

उत्तर : जब हम क्रियाशील रहते हैं-तब 'भावातीत' होने की आवश्यकता नहीं रहती। होता यह है कि जब हम ध्यान में सवेरे 'भावातीत' हो जाते हैं-तब उसका प्रभाव क्रियाशीलता के साथ सारे दिन रहता है। 'भावातीत चेतना' का नाम ही, क्रियाशीलता से दूर की स्थिति है। अब हम चाहते हैं कि वह प्रभाव हर समय बना रहे-तो चाहे हम क्रियाशील रहें या निष्क्रिय। गहरी नींद में शान्त रहें, या जागृत में क्रियाशील रहें-हमारी वह 'विशुद्ध चेतना' खो नहीं जानी चाहिए। वह, स्थायी रूप से जीवन में स्थापित हो जाये-इसके लिये, 'जागृत की चेतना' और 'भावातीत चेतना' को पारी पारी से अनुभव करने का क्रम बनाते हैं। हमें 'भावातीत' होने के लिए कुछ करना नहीं चाहिए-वह अच्छी बात नहीं होगी।

आपने कहीं किसी ग्रन्थ में पढ़ा होगा कि पहले बहुत से लोग 'आत्म चेतना' को बनाये रखने का पक्ष लेते थे-कहते थे कि जब तुम काम करते हो, उस समय भी 'आत्म चेतना' बनाये रखने का प्रयत्न करो-परन्तु यह गलत साधना है। जब आप काम करते हैं-तब क्रिया के क्षेत्र में हैं। क्रिया के क्षेत्र में रहने से आप को मानसिक रूप से पूरी तरह बर्हिमुखी होना चाहिए-जिसमें सभी ज्ञानेन्द्रियां बाहरी क्रियाशीलता में व्यस्त रहें। ऐसी स्थिति में, जब आप क्रियाशील हैं, साथ ही 'आत्म चेतना' बनाये रखने का प्रयत्न करेंगे-तब मन बंट जायेगा। मन का कुछ भाग 'क्रियाशीलता' में रहेगा ओर कुछ भाग 'आत्मा की शान्ति का स्मरण' करता रहेगा। यह 'आत्म स्मरण', जिसकी वकालत पहले कई गुरुओं ने की-हानिकारक

है। यह जीवन को 'शक्तिहीन' बनाता है-क्योंकि उसमें आधा मन बाहरी क्रिया में और आधा मन भीतर रहता है। मन के इस विभाजन में वह कमजोर हो जाता है। परिणाम होता है कि; न तो हम पूरे क्रियाशील रह पाते हैं और न ही, स्मरण के आधार पर 'आन्तरिक चेतना' ही बनाये रख सकते हैं।

आत्मा के सम्बन्ध में विचार करना 'आत्म चेतना' नहीं है-वह तो 'आत्मा की वृत्ति' बनाता है। हम वृत्ति बनाकर व्यावहारिक जीवन से अपने को अलग कर सकते हैं-परन्तु यह वृत्ति बनाने से उस 'आत्म चेतना' की प्राप्ति नहीं हो सकती-जो 'भावातीत सत्ता' है। हमें अपनी चेतना को विचारों के सूक्ष्म स्तर से आगे 'भावातीत क्षेत्र' में ले जाना चाहिए-तभी 'भावातीत चेतना', एक यथार्थता होगी। जब हम बाहरी अनुभव के क्षेत्र में है; तब यदि 'आत्मा का स्मरण' करें-तो यह आत्मा की वृत्ति बनाना होगा। तो यह आत्मा की वृत्ति बनाना, 'आत्म चेतना' में स्थित होना नहीं है। वह केवल आत्मा के विचार में रहना है-उसका मनन करना है।

जब हम ध्यान में सूक्ष्मतम विचारों से अतीत हो जाते हैं-तभी 'आत्म स्थिति' प्राप्त होती है। यदि क्रिया में रहते हुए आत्मा की अनन्तता, असीमता का ही मनन करते रहे-तो वह केवल वृत्ति ही रहेगी। यह विकास के किसी भी पक्ष के लिये अत्यन्त हानिकारक है-क्योंकि वह मन को विभाजित और कमजोर कर देती है। इसलिये नीति यह है कि; जब हम अन्तचेतना में जायें-तो पूरी तरह भावातीत होकर वहां स्थित हो जायें और जब बाहरी क्रियाशीलता में जायें-तो पूरी रतह उसमें निमग्न हो जायें। यह जीवन को समग्र बनाने का सूत्र है - पूर्ण रूप से भीतर और पूर्ण रूप से बाहर; किसी पक्ष में अधूरा रहना उचित नहीं है।

माता का केवल विचार करने से, माता नहीं मिलती।

माता का विचार तो अच्छा है, पर उतना अच्छा नहीं - जितना अच्छा उनका सामीप्य है। वह तो केवल विचार मात्र है। ये दोनों अलग स्थितियां हैं। सत्य का विचार, सत्य की स्थिति नहीं है। हम जो चाहते हैं-वह सत्य की स्थिति है; क्योंकि विचार कभी स्थायी नहीं हो सकते। कारण यह है कि प्रतिदिन हम असंख्य बातें सोचते हैं; हमें ऐसा होना चाहिए-हम ऐसे नहीं हो सकते आदि। एक ही विचार, चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो- स्थायी नहीं रहता। व्यवहार क्षेत्र में बहुत सी

ध्यान पत्रिका

संस्थापक : डॉ० शम्भू नाथ
M.Sc., Ph.D.

(1936-2009)

वर्ष-27 सितम्बर-2017 अंक-9

ध्यान शिविर में आप सपरिवार सादर आमन्त्रित हैं।

दि० 9, 10 व 11 सितम्बर, 2017 (शनिवार, रविवार, सोमवार)

पंजाबी धर्मशाला, राजगुरु मार्केट (आर्य बाजार), हिसार

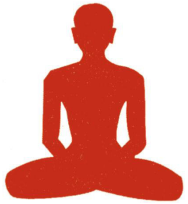

अनन्त आनन्द की अनुभूति

संसार की आवश्यकता, इसीलिए है कि -

ईश्वर को जाना जा सके, सच्चे सुख का अनुभव पाया जा सके।

शिक्षक काले बोर्ड पर चौक से लिखता है।

बोर्ड की काली पृष्ठ भूमि जरूरी है, ताकि सफेद रंग उभर सके।

इसी तरह संसार की पृष्ठ भूमि, जरूरी है-

ताकि हम अपने शुद्ध स्वरूप को जान सकें,

जो अनन्त 'आनन्द' है।

(मां अमृतानन्दमयी)

प्रकाशक

ध्यान सत्संग सभा

पंजीकरण संख्या : 280/2013

हिसार (हरियाणा), मो. : 09416164702, 09416041346

Facebook : dhyansatsangsabha@gmail.com

24.7.1893
17.5.1970

आत्मिक सौन्दर्य

✍ पंडित श्री ऋषिराम

'वृद्धावस्था' की समस्या, मेरी और आपकी नहीं, बल्कि विश्वीय है। हर घर और हर परिवार में हम, उस अवस्था का साक्षात दर्शन कर सकते हैं। 'उत्तम जीवन' तो वह है-जिसमें जीवन का 'अन्तिम दिन' भी ताजा बना रहे। जिस प्रकार 'मीठे रस से भरपूर फल' ही, अपनी महत्ता रखता है और सुगन्धी पूर्ण पुष्प ही, सबको आकर्षित करता है-ठीक उसीप्रकार, ज्ञानी का 'आत्मिक सौन्दर्य' भी स्वत: ही, अपनी ओर आकर्षित करता है। हम स्वयं उस अवस्था तक पहुंचें, अथवा नहीं-किन्तु दस मिनट किसी से बातचीत करके पता लगा सकते हैं कि; वह ज्ञान के किस स्तर तक पहुंचा है? सो, जिस व्यक्ति के जीवन में 'आनन्द और शान्ति' होगी-वह किसी से कहेगा नहीं कि; 'आओ और शान्ति लो', बल्कि उसका आनंद, उसके हृदय में व्यापक शांति-उसके सौम्य व्यवहार से स्वत: ही प्रकट हो जायेगी। यदि हमारे स्वयं के अन्दर 'आनन्द और शान्ति' है-तो जो भी हमारे निकट आयेगा, उसे ही आनन्द मिलेगा।

याद रखिये कि; किसी के पास बैठने पर, यदि आप उससे अपना ही रोना रोते रहे-तो वह शिष्टाचार वश चाहे बैठा रहे, पर अन्दर से उसका मन आपके निकट बैठने का नहीं होगा। यह व्यावहारिक जीवन का एक छोटा-सा-बुनियादी-उसूल है। किन्तु हम इन छोटी छोटी बातों को अधिक महत्व नहीं देते-जबकि जीवन में 'अशान्ति', छोटी छोटी घटनाओं के कारण ही होती है।

इस ज्ञान के विषय में तीन मुख्य बातें हमें ध्यान में रखनी होगी-

1) पहली बात तो है-उत्कट इच्छा का होना। यदि खोज गहरी नहीं-तो लक्ष्य को पा लेना कठिन ही नहीं, असम्भव है। जब सांसारिक पदार्थों को पाने के लिए, इतना पुरुषार्थ करना पड़ता है-तो इस महान् ज्ञान की तो बात ही क्या है?

2) सो दूसरी आवश्यक वस्तु पुरुषार्थ है।

3) तीसरी आवश्यकता है-मार्ग दर्शन की। केवल मात्र पुस्तकों में इस ज्ञान को पढ़कर हम, उस परम लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकते। पुस्तकें अपनी बातें